

तृतीय मण्डल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

परिवार-व्यवस्था प्रकरण

एकदा तु हरिद्वारे कुंभपर्वणि पुण्यदे।
पर्वस्नानस्य सञ्जातः समारोहोऽत्र धार्मिकः ॥ १ ॥
देशांतरादसंख्यास्ते सद्गृहस्थाश्च संगताः।
अवसरे च शुभे सर्वे पुण्यलाभाप्तिकाम्यया ॥ २ ॥
सद्भिर्महात्मभिश्चापि संगत्यात्र परस्परम्।
संदर्भसमयोत्पन्नस्थितीनां विधयः शुभाः ॥ ३ ॥
मृग्यास्तथा स्वसंपर्कक्षेत्रजानां नृणामपि।
समस्यास्ताः समाधातुं सत्प्रवृत्तेर्विवर्धने ॥ ४ ॥
मार्गदर्शनमिष्टं च राष्ट्रकल्याणकारकम्।
भागीरथीतटे तस्मात्सम्मर्दः सुमहानभूत् ॥ ५ ॥
पुण्यारण्येषु गत्वा च सर्वे देवालयेष्वपि।
प्रेरणाः प्राप्नुवन्त्युच्चा धार्मिकास्ते जनाः समे ॥ ६ ॥

टीका—एक बार पुण्यदायी कुंभपर्व पर हरिद्वार क्षेत्र में विशाल पर्व स्नान का धर्म समारोह हुआ। देश-देशांतरों से अगणित सद्गृहस्थ उस अवसर पर पुण्य-लाभ पाने के लिए एकत्रित हुए। साधु-संतों को भी परस्पर मिल-जुलकर सामयिक परिस्थितियों के संदर्भ में उपाय खोजने थे, साथ ही अपने संपर्क क्षेत्र के लोगों की समस्याएँ सुलझाने एवं सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के संदर्भ में राष्ट्र कल्याणकारी मार्गदर्शन भी करना था। भागीरथी के तट पर अपार भीड़ थी, तीर्थ आरण्यकों और देवालयों में पहुँचकर धर्म-प्रेमी उच्चस्तरीय प्रेरणाएँ प्राप्त कर रहे थे ॥ १-६ ॥

व्याख्या—कुंभ आदि पर्वों पर तीर्थस्थानों पर भारी संख्या में संतों और गृहस्थों के संगम होते रहने के प्रमाण स्थान-स्थान पर मिलते रहते हैं। मोटी मान्यता यह है कि समय विशेष पर स्नान आदि का विशेष पुण्य प्राप्त करने के लिए ही लोग पहुँचते हैं। वह भी एक पुण्य हो सकता है, किंतु प्रस्तुत संदर्भ में अनेक महत्वपूर्ण उद्देश्यों की चर्चा की गई है।

अनादिकाल से ऋषियों का संतों का एक देशव्यापी तंत्र कार्य करता रहा है। अपनी-अपनी साधनाओं से उपलब्ध महत्वपूर्ण सूत्रों का एकीकरण, बदलती परिस्थितियों के अनुरूप धर्मतंत्र के क्रियात्मक सूत्रों का निर्धारण, सामाजिक राष्ट्रीय समस्याओं के संदर्भ में सर्वसम्मत हल तथा तदनुरूप मार्गदर्शन की व्यवस्था जैसे महत्वपूर्ण पुण्यदायी कार्य ऐसे अवसरों पर किए जाते थे। इनका लाभ जनसामान्य भी उठाते

थे और जन-जन तक पहुँचाने का क्रम भी चलता रहता था।

अस्मिन् पर्वणि धौम्यश्च महर्षिः स व्यथाच्छुभम्।

सत्रं तत्र गृहस्थानां मार्गदर्शनहेतवे ॥ ७ ॥

तस्या आयोजनस्येयं सूचना विहिताऽत्र च।

शंखनादेन घण्टानां निनादेनापि सर्वतः ॥ ८ ॥

टीका—इस पर्व आयोजन के बीच महर्षि धौम्य ने सद्गृहस्थों के मार्गदर्शन हेतु एक विशेष सत्र का आयोजन किया। इस आयोजन की सूचना शंख बजाते हुए सभी को दे दी गई ॥ ७-८ ॥

व्याख्या—प्राचीनकाल के ऋषियों ने अपने समय की समस्याओं पर उसी समय की परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए प्रकाश डाला था। आज की स्थिति उस समय से भिन्न है। आज वे समस्याएँ नहीं रहीं, जो प्राचीन काल में थीं। तब परिवार सीमित और सुसंस्कारी होते थे, साधन भी पर्याप्त थे। परंतु अब नई समस्याएँ सामने हैं, उनके समाधान आज के हिसाब से ही ढूँढ़ने होंगे। यह काम युगद्रष्टाओं और कालपुरुषों का है। वे ही समय-समय पर युगानुरूप समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करते रहे हैं। यहाँ महर्षि ने बदलती परिस्थितियों में समयानुकूल समाधान प्रस्तुत करने के लिए सद्गृहस्थों सामान्यजनों को आमंत्रित किया है।

सत्रसप्ताहमारब्धं विषयेष्वपि च सप्तसु।

प्रथमे दिवसे चाभूदौत्सुक्यमधिकं नृणाम् ॥ ९ ॥

जिज्ञासवो गृहस्थाश्च बहवस्तत्र संगताः।

गृहिण्योऽपि विवेकिन्यो बह्व्यस्तत्र समागताः ॥ १० ॥

उपस्थितान् गृहस्थांश्च संबोध्योवाच तत्र सः।

ऋषिर्धौम्यो गृहस्थस्य गरिम्णो विषयेऽद्भुतम् ॥ ११ ॥

पुण्यदं घोषितं तच्च गृहेऽपि वसतां नृणाम्।

वातावृतेस्तपोभूमेः समानाया विनिर्मितेः ॥ १२ ॥

गुरुकुलस्य विशालस्य संचालनविधेरिव।

ओजस्विन्यां गभीरायां वाचि वक्तव्यमाह च ॥ १३ ॥

टीका—सत्र प्रारंभ हुआ। इसे सात दिन चलना था और सात विषयों पर प्रकाश डाला जाना था। प्रथम दिन उत्सुकता अधिक थी। बहुत से जिज्ञासु गृहस्थ उपस्थित हुए। विचारशील महिलाएँ भी उसमें बड़ी संख्या में उपस्थित थीं। उपस्थित सद्गृहस्थों को संबोधित करते हुए, महर्षि धौम्य ने गृहस्थ धर्म की अद्भुत गरिमा बताई। उसे घर में रहते हुए तपोवन का वातावरण बनाने और गुरुकुल चलाने के समान पुण्य फलदायक बताया। गंभीर ओजस्वी वाणी में अपना

३.२ प्रज्ञोपनिषद्

प्रतिपादन प्रस्तुत करते हुए वे बोले ॥ ९-१३ ॥

व्याख्या—गृहस्थ धर्म जीवन का एक पुनीत, आवश्यक एवं उपयोगी अनुष्ठान है। आत्मोन्नति करने के लिए यह एक प्राकृतिक, स्वाभाविक और सर्वसुलभ योग है। गृहस्थ धर्म के परिपालन से ही आत्मभाव की सीमा बढ़ती है, एक से अनेक तक आत्मीयता फैलती विकसित होती है। इसमें मनुष्य अपनी दिन-दिन की खुदगर्जी के ऊपर अंकुश लगाता जाता है, आत्मसंयम सीखता और स्त्री, पुत्र, संबंधी, परिजन आदि में अपनी आत्मीयता बढ़ाता जाता है। यही उन्नति धीरे-धीरे आगे बढ़ती जाती है और मनुष्य संपूर्ण चर-अचर में जड़-चेतन में, आत्मसत्ता को ही समाया देखता है। उसे परमात्मा की दिव्य ज्योति जगमगाती दीखती है।

गृहस्थाश्रम ऐसा आश्रम कहा है, जिसकी परिधि में आज के विश्व की बहुसंख्य जनसंख्या समा जाती है। इस दृष्टि से इस आश्रम की मर्यादाओं में किसी भी भले-बुरे परिवर्तन का प्रभाव सर्वाधिक लोगों को प्रभावित करता है, जो कि समाज की एक इकाई है। समाज का एक स्वरूप ही मनुष्य का अपना परिवार है। परिवार संस्था को लौकिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए अतीव उपयोगी माना गया है। परिवार जीवन की परिभाषा करते हुए ऋषि-मनीषियों ने कहा है परिवार परमात्मा की ओर से स्थापित एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा हम अपना आत्मविकास सहज ही में कर सकते हैं और आत्मा में सतोगुण को परिपुष्ट कर सुखी, समृद्ध जीवन प्राप्त कर सकते हैं। मानव जीवन की सर्वांगीण सुव्यवस्था के लिए पारिवारिक जीवन प्रथम सोपान है। मनुष्य केवल सेवा, कर्म और साधना में ही पूर्ण शांति प्राप्त कर सकता है।

जिस प्रकार परमात्मा और आत्मा में सिवाय छोटे बड़े स्वरूप के और कोई अंतर नहीं है, उसी प्रकार समाज और परिवार में कोई अंतर नहीं है। परिवार को समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाना समाज के उत्थान करने की एक छोटी-सी प्रक्रिया है। उसको क्रियात्मक रूप देने की प्रयोगशाला परिवार है। समाज सेवा का परिपूर्ण अवसर अपने परिवार के छोटे से क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है और उतने का सुधार कर सकना सरल एवं साध्य भी है। यदि हम सब अपने कौशल, ज्ञान और क्षमता का पूरा-पूरा लाभ देकर परिवार के माध्यम से समाज सेवा का उत्तरदायित्व निभाते चलें, तो जल्दी ही वे परिस्थितियाँ आ सकती हैं, वह सुकाल आ सकता है, जो कभी प्राचीन युग में रही हैं। शास्त्र का वचन है

तथा तथैव कार्योऽत्र न कालस्य विधीयते।

अभिन्नेव प्रयुज्जानो ह्यभिन्नेव प्रलीयते॥

अर्थात् इस संसार के साथ हमारा संयोग है, इसी संसार

में हमारा लय हो जाएगा, तब हमें जिस समय जो कर्तव्य हो, वही करना अनिवार्य है। व्यक्तिगत सुविधा अथवा असुविधा को लेकर कर्तव्य के पुण्य पथ पर चलते रहना चाहिए। इसीलिए धर्म ने गृहस्थाश्रम को तपोभूमि कहकर उसकी महत्ता स्वीकार की है।

गृहस्थ एव इज्यते गृहस्थस्तप्यते तपः।

चतुर्णामाश्रमाणां तु गृहस्थस्तु विशिष्यते॥

अर्थात् गृहस्थ ही वास्तव में यज्ञ करते हैं। गृहस्थ ही वास्तविक तपस्वी हैं। इसलिए चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सबका सिरमौर है। गृहस्थ जीवन एक तप है, एक साधना है। इसका समुचित प्रयोग करके ही वास्तविक जीवन लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ ऋषि श्रेष्ठ ने गृहस्थाश्रम को तपोवन बताते हुए उसकी गरिमा बताने एवं इस आश्रम को एक समग्र गुरुकुल व्यवस्था के रूप में चलाने, विकसित करने की महत्ता दर्शाने का प्रयास आरंभ किया है। उन्होंने अपने उद्बोधन का शुभारंभ ही गृहस्थाश्रम के माहात्म्य से किया है। जो स्पष्टतः इस प्रकरण की गंभीरता जताता है।

धौम्य उवाच

गृहस्थाश्रमधर्मस्य परिपालनमप्यहो ।

योगाभ्यास इवास्तीह संयमादात्मनः सदा॥ १४॥

यथाकालं तु ये चैनं धर्मं संपादयन्त्यलम् ।

परलोकेऽथ लोकेऽपि सुखं संतोषमेव च॥ १५॥

यशः श्रेयश्च विन्दन्ति मोदन्ते सर्वदा तथा ।

स्वप्रयासानुरूपं च लभन्ते पुण्यमुत्तमम् ॥ १६॥

सद्गतेरधिकारित्वं प्राप्यते यान्ति निश्चितम् ।

जीवनस्य परं लक्ष्यं पदं च योगिनो यथा॥ १७॥

टीका—महर्षि धौम्य ने कहा गृहस्थ धर्म का परिपालन भी एक प्रकार का योगाभ्यास है। चूँकि इसमें सदा आत्मसंयम का पालन करना पड़ता है। जो इसे यथा समय सही रूप में संपन्न करते हैं, वे लोक और परलोक में सुख, संतोष यश एवं श्रेय को प्राप्त करते हैं तथा प्रसन्न रहते हैं। अपने प्रयास के अनुरूप वे पुण्यफल पाते और सद्गति के अधिकारी बनकर योगियों की तरह ही जीवन लक्ष्य तक पहुँचते और परमपद पाते हैं ॥ १४-१७ ॥

व्याख्या—गृहस्थ धर्म का पालन करना एक प्रकार से योग की साधना करना है। अनेक प्रकार के योगों में एक गृहस्थ योग भी है। इसमें परमार्थ, सेवा, प्रेम, सहायता, त्याग, उदारता और बदला पाने की इच्छा से विमुखा यही दृष्टिकोण प्रधान है। यह योग महत्त्वपूर्ण, सर्वसुलभ तथा स्वल्प श्रम-साध्य है। योग के नाना रूपों का एक ही प्रयोजन है आत्मभाव को विस्तृत करना, तुच्छता को महानता के साथ बाँध देना।

भगवान् मनु का कथन है कि गृहस्थाश्रम में पुरुष उसकी पत्नी और संतान मिलकर ही एक पूर्ण मनुष्य बनता है, उनकी आत्मीयता का दायरा क्रमशः बढ़ता ही जाता है। अकेले से पति-पत्नी दो में, फिर बालक के साथ तीन में, संबंधियों में, पड़ोसियों में, गाँव, प्रांत, प्रदेश, राष्ट्र और विश्व में यह आत्मीयता क्रमशः बढ़ती है। अंततः समस्त जड़ चेतन में आत्मभाव फैल जाता है और अंत में जीव पूर्णतया आत्मसंयमी हो जाता है। गृहस्थ योग की छोटी-सी सर्वसुलभ साधना जब अपनी विकसित अवस्था तक पहुँचती है तो आत्मा परमात्मा बन जाता है और पूर्णता की प्राप्ति होती है।

ऋषि श्रेष्ठ यहाँ यह समझा रहे हैं कि परिवार निर्माण एक विशिष्ट स्तर की साधना है, उसमें योगी जैसी प्रज्ञा और तपस्वी जैसी प्रखर प्रतिभा का परिचय देना पड़ता है। कलाकार अपने आपको साधता है, किंतु परिवार निर्माता को एक समूचे समुदाय के विभिन्न प्रकृति और स्थिति के लोगों का निर्माण करना पड़ता है। यह कार्य सघन आत्मीयता, समग्र दूरदर्शिता एवं समर्थ तत्परता से ही संभव हो सकता है। इसके लिए धरती जैसी सहनशीलता, पर्वत जैसा धैर्य धारण और सूर्य जैसी प्रखरता का समन्वय सँजोना पड़ता है। इन सद्गुणों के अभाव में सुसंस्कृत-सुसंस्कारी परिवार के निर्माण का संयोग संभव नहीं।

लघुराष्ट्रं समाजोऽल्पः परिवारस्तु वर्तते।

सीमिताश्च जनास्तत्र परिवारे भवंत्यपि ॥ १८ ॥

अतएव विधातुं च गृहस्थं सुव्यवस्थितम्।

विकासोपेतमप्यत्र सुविधा अधिका मताः ॥ १९ ॥

वसतां परिवारे च सञ्चालनकृतामपि।

दायित्वमुभयोरेतत्समुदायमिमं सदा ॥ २० ॥

समाजं राष्ट्रमेवापि सादर्शं निर्मितुं समान्।

सद्भावान् बुद्धिमत्तां च क्रियाकौशलमाश्रयेत् ॥ २१ ॥

टीका—परिवार एक छोटा राष्ट्र या समाज है। उसमें सीमित लोग रहते हैं। अस्तु उसे सँभालने, विकसित करने का अभ्यास करते रहने की सुविधा भी अधिक है। जो परिवार में रहें या उसे चलाएँ, उन दोनों ही वर्गों का उत्तरदायित्व है कि इस समुदाय को एक आदर्श समाज, आदर्श राष्ट्र बनाने में अपनी समस्त सद्भावना, बुद्धिमत्ता एवं क्रिया-कौशल नियोजित करें ॥ १८-२१ ॥

व्याख्या—महर्षि ने बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र यहाँ दिया है। जो व्यक्ति की, समाज की, राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ सँभालना चाहते हैं, वे उसके अनुकूल अनुभव किसी परिवार को आदर्श ढंग से संचालित करके प्राप्त कर सकते हैं। अभ्यास का यह मार्ग सबके लिए खुला है।

समाज को आदर्श बनाने के लिए कोई कुछ कर सके या

न कर सके, पर उसकी एक इकाई अपने परिवार को उस आधार पर विकसित किया जा सकता है। पारिवारिक प्रवृत्तियाँ ही संयुक्त होकर सामाजिक स्तर पर प्रकट होती हैं। परिवार में रहने वाला हर छोटा-बड़ा व्यक्ति इस जिम्मेदारी को समझे और निभावे तो परिवार भी आदर्श बने और समाज भी।

यह एक जाना-माना सिद्धांत है कि जैसा साँचा होगा वैसी ही मूर्तिकार की रचना ढलेगी। समाज एक ऐसी मूर्ति है, जिसका साँचा परिवार है। समाज निर्माण, समाज सुधार, सत्प्रवृत्ति विस्तार सबसे पहले परिवार संस्था से आरंभ होता है। आदर्श परिवार ही किसी सशक्त समाज की आधारशिला बनाते हैं। इसी कारण महामानवों का ध्यान परिवार पर सर्वाधिक रहा है।

वस्तुतः परिवारस्तु संयुक्तो कथितो बुधैः।

पुण्यं संघटनं यस्य सुव्यवस्था मता तु सा ॥ २२ ॥

सद्भावस्य बाहुल्यात्सहकारस्य संततम्।

कर्त्तव्यपालने बुद्धिः कर्त्तव्या परिवारगैः ॥ २३ ॥

अधिकारोपलब्धेश्च यावत्सु सुविधाश्च ताः।

भवेयुः कर्म कर्तुं च यत्र यत्नो विधीयताम् ॥ २४ ॥

स्वापेक्षया परेषां हि सुविधासु भवेद् यदि।

ध्यानं तदैव कस्मिंश्चित्समुदाये तु मित्रता ॥ २५ ॥

आत्मीयता तथा नूनं सहकारस्य भावना।

विकसिता दृश्यते यैश्च बिना शून्यं हि जीवनम् ॥ २६ ॥

टीका—परिवार वस्तुतः एक पवित्र संयुक्त संगठन है। उसकी सुव्यवस्था पारस्परिक सद्भाव-सहकार की बहुलता से ही बन पड़ती है। सभी सदस्य कर्त्तव्यपालन पर अधिक ध्यान दें और अधिकार उपलब्ध करने की जितनी सुविधा मिले, उसी में से किसी प्रकार काम चलाने का प्रयत्न करें। अपनी अपेक्षा दूसरों की सुविधा का ध्यान अधिक रखने पर ही किसी समुदाय में मैत्री, आत्मीयता एवं सहकार के सद्भाव विकसित होते हैं, जिनके बिना जीवन शून्य प्रतीत होता है ॥ २२-२६ ॥

व्याख्या—परिवार क्या है? इसका बड़ा सुंदर विवेचन यहाँ किया गया है। सामान्य रूप से एक कुटुंब के व्यक्ति परिवार में माने जाते हैं। परंतु ऋषि कहते हैं यह सद्भावना और सहकार के आधार की पृष्ठभूमि पर विनिर्मित पावन संगठन है। इस आधार पर यदि एक कुटुंब के व्यक्ति भी स्वार्थ भरी आपाधापी के बीच रहते हैं, सद्भाव सहकार उनमें नहीं है तो वह भी परिवार नहीं, मजबूरी में एक बाड़े में बंद जानवर जैसे लोग हैं।

दूसरी ओर कोई भी व्यक्ति यदि परस्पर उच्च उद्देश्यों को लक्ष्य करके सद्भाव-सहकारपूर्वक साथ-साथ रहते हैं, तो वह एक परिवार है। ऐसा परिवार सभी के लिए आवश्यक

३.४ प्रज्ञोपनिषद्

होता है। ऋषि-संत आदि आश्रमों में इसी आधार पर परिवार भाव बनाकर रहते हैं। जहाँ परिवार भाव है, वहाँ कोई भी समूह परिवार कहलाता है। इसीलिए पारिवारिकता को आदर्श सामाजिक व्यवस्था माना जाता है।

व्यक्ति एकाकी रह तो सकता है, पर वह बड़ी कष्टकारी साधना है। भ्रूणावस्था से लेकर बड़े होकर स्वावलंबी बनने तक मानव के विकास में समाज का हर घटक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कोई चाहे कि वह बिना किसी के सहयोग के अपनी यात्रा चलाता रहे, तो ऐसे व्यक्ति को इक्कड़, संकीर्ण, स्वार्थी ही कहा जाएगा।

परिवार की सार्वभौम नूतन परिभाषा में मैत्री के आधार पर बना वह संगठन भी आता है, जिसके हर सदस्य परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं, एक दूसरे के सद्भाव का अवलंबन लेकर आगे बढ़ते हैं। कोई जरूरी नहीं कि व्यक्ति विवाह करके, परिवार बसाकर ही गृहस्थ धर्म निभाएँ। यदि वह एक परिवार विशेष को पारिवारिकता का पोषण देता है, तो प्रकारांतर से परिवार धर्म की साधना ही करता है। महत्ता संगठन की संरचना की नहीं उस भावना की, निष्ठा की है, जो ऐसी प्रक्रिया अपनाने पर अंत में विकसित होती है।

एतत् कुटुंबसंस्थायाः घटनं नैव केवलम् ।
कामकौतुकहेतोर्वा भोजनस्य कृते पुनः ॥ २७ ॥
वस्तुसंग्रहश्चार्थं नित्यकर्मव्यवस्थितेः ।
इयन्मात्राय दायित्वं बृहत्कश्चित्कथं वहेत् ॥ २८ ॥
एतास्तु सुविधा द्रव्यात्यप्यशालासु चाञ्जसा ।
प्राप्तुं शक्या व्ययश्चापि न्यूनस्तत्र भवेत्तथा ॥ २९ ॥
दायित्वेभ्योऽपरेभ्यश्च मुक्तस्तिष्ठति मानवः ।
इयत्यपि नरो बद्धा कुटुंबस्यानुशासने ॥ ३० ॥

टीका—परिवार संस्था का गठन काम-कौतुक, भोजन व्यवस्था, सामान की सुरक्षा एवं नित्यकर्मों की व्यवस्था मात्र के लिए नहीं होता। इतने भर के लिए कोई क्यों तैयार होगा? ये सुविधाएँ तो सराय में पैसा चुकाते रहने पर और भी सरलतापूर्वक मिल सकती हैं। उनमें खर्च भी कम पड़ेगा और जिम्मेदारियों से भी मुक्त रहा जा सकेगा। इतने पर भी हर बुद्धिमान व्यक्ति परिवारगत अनुशासन में ही बँधना चाहता है ॥ २७-३० ॥

व्याख्या—परिवार परंपरा को प्रोत्साहित करने में ऋषियों का मंतव्य केवल इतना ही नहीं रहा कि व्यक्ति एक से बहुत होकर रहें। दुःख तकलीफ पड़ने पर उसका हाथ बँटाने वाला साथ हो। व्यक्ति व्यवस्थित रूप में स्थाई होकर रहे और परिजनों के साथ अधिक उल्लासपूर्ण जीवनयापन करे। इस असाधारण मनुष्य आत्म-कल्याण की ओर भी अग्रसर हो। उसमें सामाजिकता, नागरिकता और सबसे बड़ी बात

विश्व मानवता का कल्याणकारी भाव जागे। वह अपने जैसे अन्य मनुष्यों के लिए त्याग, सहानुभूति, सौहार्द एवं आत्मीयता का अभ्यास कर सके। पारिवारिक जीवन में ही आध्यात्मिक गुणों को विकसित करने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है।

यहाँ एक ऐसा भ्रम दूर करने का प्रयास किया गया है, जिसमें अधिकांश लोग उलझकर रह जाते हैं। परिवार की आवश्यकता जीवन की सामान्य सुविधाओं के लिए होती है। यह आम मान्यता बन गई है। यदि यही सच होता, कामवासना की तुष्टि, भोजन व्यवस्था, सामान की सुरक्षा, नित्यकर्म की सुविधाएँ आदि के लिए तो धर्मशाला जैसी व्यवस्था ही काफी होती।

परंतु ऐसा है नहीं। मनुष्य की एक बड़ी आवश्यकता है, सघन आत्मीयता की अनुभूति, अपनत्व का विस्तार, अंतरंग स्नेह का रसास्वादन। पाश्चात्य परंपरा में परिवार को स्थूल व्यवस्था के लिए बनाया गया, एक ठेका मानकर प्रयोग किया गया। पहले तो कुछ समय यह व्यवस्था अच्छी लगी, पर फिर क्षोभ, असंतोष उभरने लगा। वहाँ साधन खूब हैं, एक दूसरे की स्वतंत्रता में कोई बाधक नहीं बनता, बल्कि पति-पत्नी, बच्चों और माँ-बाप के बीच यह सघन स्नेह नदारद हो गया, जिसे मानवीय अंतःकरण की खुराक माना जाता रहा है।

अनेक सर्वेक्षणों के आधार पर यह पाया गया है कि अमेरिका जैसे संपन्न राष्ट्र में ८० प्रतिशत व्यक्तियों को सोने के लिए नींद की गोली लेनी पड़ती है। उनमें से आधे से अधिक के मानसिक तनाव का कारण उनके पारिवारिक जीवन में स्नेह सद्भाव, आत्मीयता का पूर्ण अभाव पाया जाना है।

स्थातुमिच्छन्ति तत्रास्ति योग आत्मपरिष्कृतेः ।
समाजाय सुयोग्यानां नागराणां समर्पितेः ॥ ३१ ॥
वातावृतौ सुयोग्यायां व्यक्तिस्तिष्ठति सर्वदा ।
संतुष्टा च प्रसन्ना च निश्चिन्ता च कुटुंबके ॥ ३२ ॥
अतएव चिरादेष मनुष्यो वसति स्वयम् ।
कृत्वा परिवारनिर्माणं वैशिष्ट्यं मौलिकं त्विदम् ॥ ३३ ॥
पारिवारिकताऽऽधारं समाश्रित्यैव जीवनम् ।
अभूद् विकसितं तस्य जीवनं पशुतां गतम् ॥ ३४ ॥
सामूहिकस्य योगोऽभूदुत्कर्षस्यैवमेष तु ।
सुष्टेर्मुकुटरत्नं यन्मनुष्यः कथ्यतेऽधुना ॥ ३५ ॥

टीका—इसके साथ आत्म परिष्कार और समाज को सुयोग्य नागरिक प्रदान करने का परमार्थ भी जुड़ा हुआ है। उपयुक्त वातावरण में रहकर व्यक्ति प्रसन्न, संतुष्ट और निश्चित रहता है। इसलिए मनुष्य चिरकाल से परिवार बनाकर रहता आ रहा है। यह उसकी मौलिक विशेषता है।

पारिवारिकता के आधार पर ही उसका पशुतुल्य निजी जीवन विकसित हुआ है और सामूहिक उत्कर्ष का ऐसा सुयोग बन सका है, जिसमें मनुष्य को सृष्टि का मुकुटमणि कहा जाता है ॥ ३१-३५ ॥

व्याख्या—मानव सभ्यता का जितना विकास वर्तमान समय में दिखलाई पड़ता है, उसका अधिकांश श्रेय परिवार प्रथा को ही दिया जा सकता है। जिस युग में मनुष्य बिना परिवार के एकाकी रहता था तब उसमें और अन्य पशुओं में बहुत थोड़ा ही अंतर था। परिवार बनाकर रहने के पश्चात् उस पर स्त्री और बच्चों की सुरक्षा तथा पालन का जो उत्तरदायित्व आया, उसी से उसमें सामूहिकता तथा सहयोग की वृत्तियाँ उत्पन्न हुईं। इसी के द्वारा उसे स्वार्थ, त्याग और समाज सेवा का पाठ पढ़ने को मिला, जिससे क्रमशः लोगों को संगठन और सहयोगपूर्वक काम करने का अभ्यास बढ़ता गया और मानव समाज अन्य प्राणियों से सशक्त स्थिति में पहुँच सका तथा स्रष्टा की उत्कृष्टतम कृति कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर सका।

अध्यात्म क्षेत्र में सामान्यतया यह मान्यता बन गई है कि गृहस्थ एक बंधन है, उससे जान छुड़ाने का प्रयास किया जाए। इस मान्यता ने गृहस्थाश्रम की पवित्रता और उसकी व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया है। यह बात ठीक है कि कुछ महापुरुष गृहस्थ बसाए बिना भी अपना कार्य करते रहे हैं, परंतु इससे गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता संदिग्ध नहीं हो जाती।

प्राचीनकाल के इतिहास पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी गृहस्थ थे। योग-साधना एवं वनवास के समय भी उनकी पत्नियाँ साथ रहती थीं। सभी गृहस्थ मुनि सपत्नीक रहते थे। महर्षियों में प्रधान सप्त ऋषियों की भी पत्नियाँ थीं, उनके बच्चे भी थे। देवताओं में सभी गृहस्थ हैं। ईश्वर के अवतारों में भी अधिकांश ने अपना गृहस्थ बनाया है। भगवान राम और कृष्ण जिनका नाम लेकर हम भवसागर से पार होते हैं, गृहस्थ ही तो थे। दांपत्य जीवन की आवश्यकता एवं उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उन्होंने मर्यादापालन के लिए एक सद्गृहस्थ के रूप में ही अपना चरित्र प्रस्तुत किया है। जीवन की सुविधा तो गृहस्थ जीवन में बढ़ती है, साथ ही कितने जीवन लक्ष्यों की पूर्ति में भारी सहायता मिलती है।

चर्चामिमां महर्षिः स धौम्योऽग्रे वर्धयन्मुनः।

उवाच भद्राः शृणुत परिवारस्तु वर्तते ॥ ३६ ॥

दिव्या प्रयोगशालेव सद्गुणोन्मेषकारिणी।

तस्य सञ्चालनं सम्यक् निर्धारणमथाऽपि च ॥ ३७ ॥

यदि स्यान्निश्चितं तत्र सुयोग्याः शिक्षितास्तथा।

नागराः संभविष्यन्ति महापुरुषसंज्ञकाः ॥ ३८ ॥

गुणं कर्म स्वभावं च कर्तुमुच्चैस्तरं तथा।

व्यक्तित्वं प्रखरं कर्तुं पाठशालेव च स्मृतः ॥ ३९ ॥

अस्ति व्यायामशालेव परिवारस्तुनिश्चितम्।

जीवनस्योपयुक्तानि वैशिष्ट्यानि समभ्यसन् ॥ ४० ॥

समर्थो जायते यत्र नरः सर्वत एव च।

आत्मनः परिवारस्य हितं राष्ट्रस्य सिद्ध्यति ॥ ४१ ॥

टीका—ऋषि प्रवर धौम्य अपनी चर्चा आगे बढ़ाते हुए पुनः बोले, हे भद्रजनों परिवार तो सद्गुणों को विकसित करने की एक प्रयोगशाला है। उसका सही निर्धारण एवं सुसंचालन किया जा सके, तो निश्चय ही उस परिकर में से सुयोग्य-शिक्षित नागरिक एवं महामानव निकलेंगे। गुण-कर्म-स्वभाव को उच्चस्तरीय बनाने एवं व्यक्तित्व को गौरवशाली बनाने का पाठ इसी पाठशाला में पढ़ा जाता है। यही वह व्यायामशाला है जिसमें जीवन भर काम आने वाली विशिष्टताओं का अभ्यास करते हुए हर दृष्टि से समर्थ बना जा सकता है, जिससे अपने परिवार का, राष्ट्र का हित सिद्ध होता है ॥ ३६-४१ ॥

व्याख्या—परिवार को यहाँ एक प्रयोगशाला, पाठशाला एवं व्यायामशाला की उपमा देते हुए एक ऐसी टकसाल बताया गया है, जहाँ समर्थ राष्ट्र के लिए अभीष्ट महामानवों की ढलाई होती है।

मनुष्य का सारा जीवन भली-भाँति की परीक्षाओं से निपटते हुए कटता है। परिवार रूपी प्रयोगशाला में गुण, कर्म, स्वभाव की अच्छी खासी परीक्षा हो जाती है। जहाँ पारिवारिक वातावरण श्रेष्ठ कोटि का होगा, वहाँ के प्रयोग निष्कर्ष भी अनुपम होंगे। महामानवों के जीवन ऐसे ही प्रयोगों की कड़ी कसौटी पर खरे उतरकर श्रेष्ठ बन सकने में समर्थ हुए हैं।

पाठशाला सुसंस्कारिता संवर्द्धन के साथ-साथ व्यक्ति के कर्तृत्व को लक्ष्य के साथ जोड़ देने हेतु विनिर्मित एक परिकर है। मात्र स्कूली पढ़ाई पर्याप्त नहीं। जब तक जीवन के विभिन्न पहलुओं का व्यावहारिक अध्ययन-अध्यापन यहाँ नहीं होगा, यह पठन-पाठन व्यर्थ है। व्यक्तित्व को श्रेष्ठ बनाने का काम पारिवारिक पाठशाला करती है।

व्यायामशाला में शरीर को बलिष्ठ बनाने, अपनी सामर्थ्य को विकसित करने का प्रयास किया जाता है। भाँति-भाँति के संयम-अनुशासन पालने पड़ते हैं। व्यक्ति जब तक पूरी वर्जिस नहीं कर लेता, उसका एक बार किया हुआ व्यायाम पर्याप्त नहीं माना जाता। जागरूकता, कर्मठता के विकास हेतु जरूरी है कि परिवार को एक व्यायामशाला मानते हुए अपने विकारों पर नियंत्रण की एवं समर्थता-विशिष्टता बढ़ाने की साधना भली प्रकार की जाए, ताकि परिवार की समाज की

३.६ प्रज्ञोपनिषद्

राष्ट्र की एक सर्वांगीण इकाई के रूप में मनुष्य विकसित हो सके।

अधिसंख्य महापुरुषों का जीवन इस तथ्य का साक्षी है कि उन्होंने पारिवारिक वातावरण में ही महानता का पाठ सीखा।

दूरदर्शित्वभावस्य तथैव सुव्यवस्थिते ।
श्रेष्ठोऽभ्यासो गृहे कर्तुं शक्यो मर्त्येन चाञ्जसा ॥ ४२ ॥

न तथा शक्यते प्राप्तुमन्यत्राऽनुभवो न च ।
प्रशिक्षणं लभेतापि व्यवहारानुकूलगम् ॥ ४३ ॥
आदिकालात्समाश्रित्याधारं तं पारिवारिकम् ।

चलतीह तु विश्वस्य व्यवस्था स्वर्गसौख्यदा ॥ ४४ ॥
दिनेषु तेषु चाभूत् सा वातावृत्तिरतः शुभाः ।

सत्यस्यात्र युगस्येव मर्त्यकल्याणकारिका ॥ ४५ ॥
परंपराऽवहेलैव कारणं प्रमुखं तु तत् ।

नरो येन महान् स्वार्थी क्षुद्रो जातो निरंतरम् ॥ ४६ ॥
समस्याभिरनेकाभिस्तथाऽक्ते च विपत्तिभिः ।

वृतः परं भविष्यंतु वर्तते प्रोज्ज्वलं ध्रुवम् ॥ ४७ ॥

टीका—सुव्यवस्था और दूरदर्शिता का जितनी अच्छी तरह अभ्यास घर-परिवार के बीच किया जा सकता है, उतना व्यावहारिक प्रशिक्षण एवं अनुभव अर्जित कर सकना अन्यत्र कहीं भी संभव नहीं हो सकता। स्वर्ग के समान सुखदायी विश्व-व्यवस्था आदिकाल से पारिवारिकता के आधार पर चलती रही है। सतयुगी वातावरण उन दिनों इसी कारण बना भी रहा, जो मनुष्य मात्र के कल्याण का कारण था। उस महान परंपरा की अवहेलना ही मुख्य कारण है, जिससे मनुष्य स्वार्थी व क्षुद्र बनता चला गया और अंत में अनेकानेक समस्याओं एवं विपत्तियों से घिर गया, लेकिन उसका भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल है ॥ ४२-४७ ॥

व्याख्या—परिवार एक पूरा समाज, एक पूरा राष्ट्र है। भले ही उसका आकार छोटा हो, पर समस्याएँ वे सभी मौजूद हैं जो किसी राष्ट्र या समाज के सामने प्रस्तुत रहती हैं। प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति को जो बात अपने देश को समुन्नत बनाने के लिए सोचनी-करनी चाहिए, वही सब कुछ व्यवस्था एवं दूरदर्शिता किसी सदगृहस्थ को परिवार निर्माण के लिए अपनानी पड़ती है। परिवार को एक सहयोग-समिति, एक गुरुकुल के रूप में विकसित करना पड़ता है, जिससे परिवार का वातावरण अच्छा बने, परिजनों को सुसंस्कृत स्तर तक पहुँचाया जा सके। भारत में या विश्व में कहीं भी जब कभी भी आदर्श सामाजिक व्यवस्था स्वर्गीय परिस्थितियाँ बनी हैं, उसका आधार पारिवारिकता की भावना ही रही है। उस भावना के उदय से परिस्थितियाँ सुधरीं और उसके विलय से बिगड़ीं। देश-विदेश के अगणित उदाहरण इसके साक्षी हैं।

प्रस्तोतव्यः स आदर्शः पुरुषैरग्रजैः सदा ।

अनुकुर्वन्तु तं सर्वं तथैवाऽऽनुजन्मनः ॥ ४८ ॥

कुतोऽप्येताः समायान्ति दुष्प्रवृत्तय उद्धताः ।

परं प्रभावितान् कर्तुं सदस्यान् परिवारगान् ॥ ४९ ॥

सत्प्रवृत्तिभिराभिश्चेदिष्टं तत्पुरुषैर्वरैः ।

सदाचारैर्निजैरैवादर्शाः स्थाप्याः स्वयं शुभाः ॥ ५० ॥

शिक्षा वास्तविकी चैवं दीयते नोपदेशजः ।

प्रभावः प्रभवत्यत्र यथाऽऽचारसमुद्भवः ॥ ५१ ॥

टीका—परिवार के बड़े लोग छोटे के सामने अपना आदर्श रखें, ताकि वे उनका अनुकरण कर सकें। दुष्प्रवृत्तियाँ तो कहीं से भी दौड़ती हैं। पर सत्प्रवृत्तियों से पारिवारिक सदस्यों को प्रभावित करना हो, तो उसके लिए बड़ों को ही अपना उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। वास्तविक शिक्षा इसी प्रकार दी जाती है। प्रभाव उपदेशों का नहीं, सामने प्रस्तुत होते रहने वाले आचरण का पड़ता है ॥ ४८-५१ ॥

व्याख्या—पतन सरल है, उत्थान कठिन। पानी का प्रवाह नीचे की ओर ही बहता है। उसे ऊँचा उठाना हो, तो काफी पुरुषार्थ करना पड़ता है। मनुष्य का स्वभाव कुछ इस प्रकार का है कि उसे पतन-पराभव के गर्त में जाते तनिक भी देर नहीं लगती। चिंतन को ऊर्ध्वगामी बनाने हेतु सत्प्रवृत्तियों के उदाहरण ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दुष्प्रवृत्तियों के लिए किसी को आमंत्रित नहीं करना पड़ता। वे जहाँ कमजोरी देखती हैं आ धमकती हैं।

ऊँचा उठने की प्रवृत्ति तभी अंदर से उमड़ती है, जब वैसा ही आचरण बड़े भी करें। पारिवारिक जन अनुकरण हेतु अपने से बड़ों को ही देखते हैं। यदि घर के सभी वरिष्ठजन स्वयं निष्ठापूर्वक उस दिशा में प्रवृत्त हुए हों, तो सहज ही सबको वह मार्ग अपनाने की प्रेरणा मिलती है। वरिष्ठों से तात्पर्य है, वे जिन्हें अग्रणी-आदर्शपुंज माना जाता है। चाहे परिवार छोटा हो अथवा बड़ा, समाज हो अथवा संस्था, राज्य हो अथवा राष्ट्र सभी पर यह एक ही तथ्य समान रूप से लागू होता है। शिक्षा देने की व्यावहारिक एवं आदर्श विधि यही है कि स्वयं भी वैसा ही आचरण किया जाए। कथनी व करनी में अंतर न हो। वाणी से भले ही कितना ही आदर्श शिक्षण क्यों न दिया जा रहा हो, स्वयं आचरण में न उतारा गया, तो वह थोथा ही सिद्ध होता है।

शिष्टाचारं तथा सर्वे सदस्याः परिवारगाः ।

व्यवहरंतु ससम्मानं मधुरं प्रवदंतु च ॥ ५२ ॥

वार्तालापं कटुं नैव नाऽपमानयुतं तथा ।

प्रकुर्वन्तु प्रणामस्य स्वीकुर्वन्तु परंपराम् ॥ ५३ ॥

अपशब्दोपयोगोऽथ भूत्वा क्रोधवशस्तथा ।

केशाकेशि न कर्त्तव्यं बाहूबाहवि वा पुनः ॥ ५४ ॥

टीका—परिवार का हर सदस्य एक दूसरे के साथ शिष्टाचार बरते। सम्मान करे। मधुर शब्द बोले। कटु और अपमानसूचक वार्तालाप कोई न करे। परस्पर अभिवादन की परंपरा का निर्वाह होता रहे। अपशब्द कह बैठना, आवेश में आकर मारपीट करना सभ्यजनों को शोभा नहीं देता ॥ ५२-५४ ॥

व्याख्या—परिवार का संतुलन बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि परिजनों में सभी शिष्टाचार का पालन करते और एक-दूसरे के सम्मान का ध्यान रखते हैं अथवा नहीं। किसी के प्रति सम्मान प्रकट करने या प्रणाम करने से मनुष्य छोटा नहीं हो जाता, वरन इससे श्रेष्ठत्व की प्रतिष्ठा ही होती है और उस उच्च भावना का लाभ भी बिना मिले रहता नहीं। शुद्ध अंतःकरण से किया हुआ नमन आंतरिक शक्तियों को जगाता है। इसलिए श्रेष्ठ पुरुषों ने सदैव ही इस मर्यादा का पालन किया है। सम्मान से प्रत्येक मनुष्य को एक प्रकार की आध्यात्मिक तृप्ति मिलती है उसे प्रत्येक व्यक्ति चाहता है, इसलिए विपरीत परिस्थितियों में भी इस नैतिक मर्यादा का पालन करना चाहिए।

कटुता वर्द्धतेऽनेन द्वेषो मालिन्यमेव च।

मानसं समुदेत्यत्र नैव भद्रा अशिष्टताम् ॥ ५५ ॥

व्यवहारे प्रगृह्णन्तु बुद्धिरत्र विधीयताम्।

यत्नः हस्तावलंबेन सहयोगे विधीयताम् ॥ ५६ ॥

औदासीन्येन वोपेक्षाभावेनापि शनैः शनैः।

घनत्वं हीयते प्रेम्णाः सहकारेण वर्द्धते ॥ ५७ ॥

आत्मन्येव मनो येषां स्वार्थबुद्ध्या प्रवर्तते।

सधीचामवहेला च ये कुर्वन्ति नरास्तु ते ॥ ५८ ॥

तिरस्कारं लभन्ते च हानिं विदन्त्यपि भृशम्।

लाभो मानवदेहस्य प्राप्यत एभिर्नो क्वचित् ॥ ५९ ॥

टीका—इससे कटुता बढ़ती है, द्वेष और मनोमालिन्य पनपता है। अतः हे भद्रपुरुषो अशिष्टता को परिवार व्यवहार में कहीं कोई स्थान न मिले, इसका समुचित ध्यान रखा जाए। हर सदस्य एक दूसरे का हाथ बँटाने, सहयोग देने का प्रयास करे। उपेक्षा और उदासी बरतने से घनिष्टता घट जाती है। प्रेम और सहकार से सद्भाव बढ़ता है। मात्र अपना ही ध्यान रखने वाले और साथियों की अवहेलना करने वाले स्वार्थीजन बदले में तिरस्कार पाते और घाटे में रहते हैं, उन्हें मानव शरीर के कोई लाभ हस्तगत नहीं होते ॥ ५५-५९ ॥

व्याख्या—परिवार भाव का विकास करने के इच्छुक साधकों को ऋषि सूत्र बतलाते हैं कि

(१) सहकार से सद्भाव बढ़ता है।

(२) उपेक्षा, उदासी से घनिष्टता घटती है।

उपेक्षा, उदासी, स्वार्थ, संकीर्णतावश ही होती है। उदार

परमार्थी इस भाव के शिकार नहीं हो पाते। संकीर्ण स्वार्थपरता तिरस्कार का घाटे का कारण बनती है।

इसलिए ऋषि चाहते हैं कि मतभेद होने पर भी अथवा परिहास में भी अशिष्टता को परिवार में स्थान न मिले। वैचारिक मतभेदों को सहज शिष्टाचारपूर्वक बिना किसी को अपमानित किए सुलझाया जा सकता है किंतु जब पारस्परिक वाद-विवाद तक नौबत आ जाती है, तो मनोमालिन्य गहरी जड़ें जमा लेता है।

यदि हल्का-फुल्का जीवन जीने का एक-दूसरे को सहयोग देने का मार्ग अपनाया जाए तो प्रतिक्रिया स्वरूप जन सहयोग एवं लोक सम्मान स्वतः मिलने लगेगा। सद्भाव पाने का एक ही मार्ग है, शिष्टाचार की पृष्ठभूमि पर टिका पारस्परिक सहकार।

सीमितः परिवारः स्यात् संख्या स्वल्पैव संततेः।

सुखदा हानयोऽसंख्या बहुप्रजननोद्भवाः ॥ ६० ॥

जनन्या हीयते तत्रारोग्यमायुष्यमेव च।

परिवारसदस्यानां क्षीयन्ते सुविधास्तथा ॥ ६१ ॥

प्रत्येकेन सदस्येन हानिरेव च लभ्यते।

अभिवृद्ध्याऽनया नूनं नवया चिंत्यतामिदम् ॥ ६२ ॥

सञ्चालकः कुटुंबस्य तैलयंत्रवृषो यथा।

तथा भ्रमति चार्थस्य भारवाहितया ततः ॥ ६३ ॥

उद्विग्नश्च भवत्येष विवेकं परिहाय च।

नीत्यनीती परित्यज्य यततेऽधिकमर्जितम् ॥ ६४ ॥

टीका—परिवार छोटा रहे। बच्चों की संख्या अधिक न बढ़े। बहुप्रजनन की असंख्यों हानियाँ हैं। जननी का आयुष्य और आरोग्य घटता है। परिवारगत सुविधाओं में नए सदस्य बढ़ने से कटौती होती है। हर सदस्य को इस नई अभिवृद्धि से घाटा उठाना पड़ता है। यह बात बहुत चिंताजनक है। परिवार संचालक को अर्थ भार वहन करने के लिए कोल्हू के बैल की तरह जुतना पड़ता है उद्विग्न होना पड़ता है। उसे विवेक खोकर नीति-अनीति का ध्यान रखे बिना अधिक कमाने का प्रयास करना पड़ता है ॥ ६०-६४ ॥

व्याख्या—किसी भी प्रकार के उत्तरदायित्व को भली प्रकार निभाने के दो सूत्र हैं। (१) उत्तरदायित्व निभाने की अपनी क्षमता-योग्यता का विकास। (२) उत्तरदायित्वों को अनावश्यक रूप से बढ़ने न देना।

परिवार के संदर्भ में भी ऋषि इन दोनों सूत्रों पर ध्यान दिलाते हैं। पिछले श्लोकों में वे सूत्र बतलाए गए, जिनसे पारिवारिक आत्मीयता सद्भाव का विकास हो। यह भाव जितने विकसित, पुष्ट होंगे परिवार उतने ही श्रेष्ठ बनेंगे।

दूसरा सूत्र है—उत्तरदायित्व बढ़ने न देने का। इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं, पहली बात है, बच्चों की संख्या न

३.८ प्रज्ञोपनिषद्

बढ़ने देना। दूसरी है, व्यय न बढ़ने देना। यहाँ बच्चों की संख्या बढ़ने से होने वाली हानियों पर ध्यान दिलाया गया है। (१) जननी का स्वास्थ्य (२) सदस्यों की सुविधाओं में कटौती (३) संचालक पर दबाव और अनीति करने की मजबूरी।

शिशवोऽपि भवन्त्यस्मात्स्नेहसौख्यप्रशिक्षणैः।

वाञ्छिताः फलतस्तेषां विकासस्त्ववरुद्धयते॥६५॥

अंधकारमयं चैव भविष्यजायते ध्रुवम्।

यत्र राष्ट्रे समाजे वा जनसंख्या विवर्द्धते॥६६॥

अभावसंकटग्रस्ता जायन्ते तत्र पूरुषाः।

बहुप्रजननं तस्मात्त्यक्तव्यं भूतिमिच्छता॥६७॥

प्रसंगेऽस्मिंश्च यः कश्चिद् यावर्ती न्यूनतां भजेत्।

बुद्धिमान् स तथैवात्र महान् वक्तुं भविष्यति॥६८॥

टीका—ऐसी स्थिति में बच्चे भी समुचित दुलार, प्रशिक्षण एवं सुविधा-साधनों से वंचित रहते हैं। फलतः उनका विकास रुकता है और भविष्य अंधकारमय बनता है। जिस समुदाय अथवा राष्ट्र में जनसंख्या बढ़ती है, वे अभावग्रस्त होते और संकटों से घिरे रहते हैं। अतः सुख चाहने वालों को बहु प्रजनन से बचना ही चाहिए। जो इस संदर्भ में जितना अधिक कटौती कर सके, उसे उतना ही बुद्धिमान कहा जाएगा॥ ६५-६८॥

व्याख्या—बच्चे अधिक पैदा करने से माता-पिता तथा परिजनों को, समाज को होने वाली हानि पर पिछले प्रतिपादन में ध्यान दिलाया गया था। यहाँ स्वयं बच्चों पर नई पीढ़ी पर होने वाले कुप्रभावों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

संतति को जन्म देने का उद्देश्य है परिवार को, समाज को श्रेष्ठ उत्तराधिकारी प्रदान करना है। स्पष्ट है कि जो हों, वे श्रेष्ठ समर्थ और योग्य हों। इसीलिए देव संस्कृति ने संतान की संख्या की अपेक्षा उनके स्तर को बढ़ाने का समर्थन किया है। कहा गया है

वरमेको गुणी पुत्रो, न च मूर्खशतान्यपि।

एकश्चंद्रः तमो हंति, न च तारागणैरपि॥

अर्थात् एक गुणी पुत्र पाना उचित न कि सैकड़ों मूर्ख। एक चंद्रमा रात्रि का अंधकार दूर कर देता है। ढेरों तारे मिलकर भी वैसा नहीं कर पाते।

यह केवल उक्ति नहीं है। उदाहरणों से भी यह सिद्ध होता है कि जिन्होंने सीमित संतानें रखी, वे ही उन्हें श्रेष्ठ सुसंस्कारी बना सके। संख्या वृद्धि करने वाले संस्कार देने में असफल ही हुए।

मितव्ययत्वमेवाथ प्रत्येकस्मिंस्तु कर्मणि।

वर्तितव्यं महत्त्वं च द्रव्यस्यान्ये समेऽपि ते॥६९॥

सदस्या अधिगच्छंतु तथा बोध्याः पुनः पुनः।

नाश्यं नैव धनं व्यर्थं विलासस्य प्रदर्शने॥७०॥

अहं त्वस्यापि वा माता लक्ष्मीरित्युपयुज्यताम्।

हेयमित्यवमत्याऽसत् कार्येषु नोपयुज्यताम्॥७१॥

शृंगारे नैव कर्तव्यो व्ययोऽलंकरणेऽथवा।

सौजन्यं निहितं नूनं तत्र संस्कारिताऽपि च॥७२॥

स्वाभाविके तथा सौम्ये सरले जीवने द्वयम्।

सत्कर्मष्वेव वित्तानि सविवेकं नियुज्यताम्॥७३॥

टीका—हर कार्य में मितव्ययिता बरती जाए। हर सदस्य को पैसे का महत्त्व समझाया जाए। विलास, अहंता प्रदर्शिता करने वाले कामों में धन को बरबाद न होने दिया जाए। लक्ष्मी को माता मानकर उसका सदुपयोग किया जाए। हेय मानकर उसका दुरुपयोग न होने दें। शृंगार-अलंकरण पर कुछ भी खर्च न किया जाए। सादगी में ही सज्जनता और सुसंस्कारिता सन्निहित है। सत्कर्मों में ही विवेकपूर्वक धन को नियोजित किया जाए॥ ६९-७३॥

व्याख्या—परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर अनावश्यक बोझ अपने कंधे पर लादना, जहाँ परिवार के मुखिया के लिए अनीति से अथवा किसी भी उपाय से साधन जुटाने को विवश करता है, वहीं दूसरी ओर मितव्ययिता को वृत्ति का अभाव, प्रदर्शन ठाट-बाट में ही अपना बड़प्पन मानने की प्रवृत्ति व्यक्ति को विमुख कर देती है। मितव्ययिता एवं कृपणता दोनों नितांत भिन्न बातें हैं। बातें हैं। हर साधन का सोच-समझकर सदुपयोग परमार्थ कार्यों में उसका सुनियोजन मितव्ययिता कहलाता है, जबकि अनावश्यक संचय से जुड़ी संकीर्ण स्वार्थपरता, कृपणता का पर्याय है।

परिवार व्यवस्था भली-भाँति चल सके, किसी भी सदस्य को अभाव न अनुभव हो, सभी उपलब्ध साधनों में ही विकास करते रह सकें, इसके लिए अपव्यय के छिद्रों को रोका जाना अत्यंत अनिवार्य है। किसी भी परिवार-जन को स्वस्थ मनोरंजन, स्वाध्याय, सत्संग, साधना जैसे पुण्य प्रयोजनों के लिए पर्याप्त समय मिलना चाहिए। हर समय उन्हें उपार्जन, प्रयोजन के निमित्त बैल की तरह न जुतना पड़े। इसके लिए अनिवार्य है कि हर सदस्य धन का महत्त्व समझे। बहुधा कमाते समय धन पाने के समय तो उसे सर्वस्व मान लिया जाता है तथा ईमान, मनुष्यता की कीमत पर भी उसे प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। ऐसे अवसर पर धन की सीमा का ध्यान रखा जाना उचित है।

इसके विपरीत खर्च करते समय पागलपन जैसी हरकतें की जाती हैं। समय, श्रम, योग्यता की इतनी कीमत चुकाकर प्राप्त धन को बेदर्दी से बेकार के कामों में खर्च कर दिया जाता है। धन का महत्त्व समझकर उसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में खर्च करने का संस्कार डालें।

लक्ष्मी को माता मानने का अर्थ है उसकी पवित्रता का ध्यान रखा जाए। उपयोग तक उसकी पवित्रता है, उपभोग में वह समाप्त हो जाती है। माँ के उपयोग की बात सोची जाती है, उसे उपभोग का विषय नहीं बनाया जाए। विलास और अहंता के प्रदर्शन में, फैशन-शृंगार में धन खर्च करना लक्ष्मी माँ का उपभोग करना है। इस प्रवृत्ति को परिजनों में न होने देना आवश्यक है।

धन कितना भी एकत्रित हो जाए उसका कोई लाभ नहीं, वह तो एक भार और हो जाता है। उसके उपयोग से उसका लाभ मिलता है। जैसा उपयोग होगा, वैसा लाभ मिलेगा। असत कार्यों में लगने से असत परिणाम और सत कार्यों में लगने से सत्परिणाम सामने आते हैं। यदि उपार्जन के बाद, आवश्यक प्रयोजनों में नियोजित होने के बाद, धन शेष रह जाता है तो उसे परमार्थ कार्यों में व्यय करना चाहिए समाज वह वृहत् परिवार है, हम भी उसके एक अंग सरीखे हैं। इस नाते सत्प्रवृत्तियाँ फैलाने तथा वातावरण को उत्कृष्टता का पक्षधर बनाने के निमित्त जितने धन का सदुपयोग हो सकेगा उतना ही लाभकारी होगा।

विपत्कालस्य हेतोः स उन्नतेश्च प्रयोजनात्।

वित्तस्य संग्रहः कार्यो दक्ष आये व्यये भवेत् ॥ ७४ ॥

प्रदर्शनेषु चायोग्यजनानां परितोषणे।

व्यसनेषु कुरीतीनां पालने वित्तनाशनम् ॥ ७५ ॥

नैव क्वापि विधातव्यं बुद्धिमत्त्वमिदं स्मृतम्।

एतत्तथ्यविदः संति सुखिनः संस्कृता अपि ॥ ७६ ॥

टीका—कुसमय के लिए तथा उत्थान प्रयोजनों के लिए धन की बचत की जाए। आय-व्यय में सावधानी रखें। दुर्व्यसनों में उद्धत प्रदर्शनों में अनपयुक्त लोगों की आवभगत में कुरीतियों के परिपालन में पैसों का दुरुपयोग न होने देना ही बुद्धिमत्ता है। जो इस तथ्य को समझते और अपनाते हैं वे परिवार सुखी रहते, सुसंस्कृत कहलाते हैं ॥ ७४-७६ ॥

व्याख्या—परिवार की सुख-शांति के मूल में एक ही बीज मंत्र काम करता है—सुव्यवस्था, आर्थिक सुनियोजन एवं उपलब्ध साधनों का बुद्धिमानीपूर्वक सदुपयोग। आड़े समय में आने वाली विवशताओं से बचने के लिए जहाँ अपव्यय रोककर धन संग्रह जरूरी है, वहाँ उसका उचित कार्यों में उपयोग भी। अहंता-प्रदर्शन वृत्ति पर रोकथाम लगा कर जहाँ पैसे का दुरुपयोग रोकना जरूरी है, वहाँ उसे श्रम-नीति की कमाई से एकत्र करना भी अनिवार्य है? यह सब सुनियोजित विधि-व्यवस्था के बलबूते संभव है, जो हर गृहपति को अपनाना अभीष्ट है।

सुव्यवस्थाविधौ ध्यानं स्वच्छतायां तथैव च।

प्रत्येकस्य सदस्यस्य भवेदेव निरंतरम् ॥ ७७ ॥

अस्तव्यस्तत्वभावोऽयं मालिन्यमपि नो क्वचित्।

उद्भववेदव्यवस्थायां मालिन्यं च कुरूपता ॥ ७८ ॥

तिष्ठतो येन व्यक्तित्वं हीयते कथितं त्विदम्।

कुसंस्कारयुतो भावस्तस्मादेनं परित्यजेत् ॥ ७९ ॥

कलाकारितया ख्याते स्वच्छता च सुसज्जता।

सुरुचेर्दर्शनं तत्र शरीरं पुरुषा यथा ॥ ८० ॥

स्वच्छसुंदरमेवापि कुर्वन्त्येव निरंतरम्।

तथोपकरणान्यत्र वस्त्रपात्रगृहानपि ॥ ८१ ॥

टीका—स्वच्छता और सुव्यवस्था की ओर घर के हर सदस्य का ध्यान रहे। गंदगी अस्तव्यस्तता कहीं भी पनपने न पाए। अव्यवस्था में ही गंदगी और कुरूपता है। इसी को कुसंस्कारिता कहा गया है, इससे व्यक्तित्व घटिया बनता है। स्वच्छता और सुसज्जा को ही कलाकारिता कहते हैं। इसमें सुरुचि का दर्शन होता है। शरीर को स्वच्छ, सुंदर रखने की तरह ही वस्त्र उपकरण, पात्र, मकान आदि सभी परिवार प्रयोग की वस्तुओं की सफाई पर पूरा ध्यान दिया जाए ॥ ७७-८१ ॥

व्याख्या—गृह की स्वच्छता और आंतरिक व्यवस्था एक कला है। अपनी स्वयं की स्वच्छता, अपने जीवन में सादगी तथा घर की सफाई, मरम्मत, सादगीपूर्ण सज्जा और सुव्यवस्था पर ध्यान रखना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। इस कर्तव्य की उपेक्षा से क्लेश ही भोगना पड़ता है, और इसे पूरा करने वाले को प्रसन्नता, प्रफुल्लता एवं प्रगति का पुरस्कार प्राप्त होता रहता है। स्वच्छता से भगवान की समीपता बतलाई गई है। जो शुवि और स्वच्छ है, वह एक प्रकार से ईश्वर के सन्निकट ही रहता है। भगवान को शुचिता, स्वच्छता एवं पवित्रता परमप्रिय है। रोम के प्रसिद्ध महात्मा एपिक्टेस युवकों को सदा यही उपदेश दिया करते थे कि स्वच्छतापूर्वक रहो और सुंदर बनो। वे बाह्य वस्तुओं की सुंदरता और स्वच्छता पर विशेष ध्यान देते थे, और कहा करते थे कि जो युवक स्वच्छ रहता है, साफ-सुथरे कपड़े पहनता है, अपने व्यवहार की वस्तुओं को शुद्ध, स्वच्छ और सुव्यवस्थित रखता है, वह अस्वच्छ एवं अस्त-व्यस्त अव्यवस्थित रहने वाले युवकों की अपेक्षा तत्त्वज्ञान शीघ्र ही प्राप्त कर लेगा और दीर्घजीवी होगा।

सज्जनता की पहली निशानी है स्वच्छता तथा योग्यता एवं प्रतिभा की प्रथम शर्त है सुव्यवस्था। परिवार को सज्जन और प्रतिभावान बनाना चाहें, तो उनमें स्वच्छता और व्यवस्था की वृद्धि और क्षमता पैदा की जानी चाहिए।

स्वच्छान् सुसज्जितानेव कर्तुमन्यान्पि स्वयम्।

वस्तूनि पततां नित्यं व्यक्तित्वोदय-हेतवे ॥ ८२ ॥

कृमिकीटादयो नैव तिष्ठेयुरिति यत्नताम्।

३.१० प्रज्ञोपनिषद्

पवनस्यातपस्यापि प्रवेशो भवने भवेत् ॥ ८३ ॥

वस्त्राणां स्वच्छताऽऽवासगृहस्यापि च स्वच्छता ।

सुव्यवस्था विधिर्नूनं परिवारगतान् नरान् ॥ ८४ ॥

सत्प्रवृत्तिपरान् पक्वप्रकृतींश्च समानपि ।

विधत्तः सदगुणश्चायं महत्त्वमहितो भुवि ॥ ८५ ॥

लाभः सर्वैर्नरैरेष कर्तुं स्वर्गं गृहान् स्वकान् ।

सदस्याश्च गृहस्थास्ते देवत्वं यान्तु सत्वरम् ॥ ८६ ॥

टीका—अन्य वस्तुओं को स्वच्छ और सुसज्जित रखने से व्यक्तित्व में वृद्धि होती है। कृमि-कीटकों को जमने न दिया जाए। धूप और हवा का हर जगह प्रवेश हो। वस्त्रों की सफाई, निवास, गृह की स्वच्छता, सुव्यवस्था करते रहने से परिवार के सदस्यों के स्वभाव में सत्प्रवृत्ति की परिपक्वता बनती बढ़ती है। यह एक महत्त्वपूर्ण सदगुण है। अपने घर को स्वर्ग बनाने के लिए यह गुण सभी को प्राप्त करना चाहिए ताकि उस घर में रहने वाले सदस्य शीघ्र देवत्व को प्राप्त हो जाएँ ॥ ८२-८६ ॥

व्याख्या—स्वच्छता परमात्मा का सान्निध्य है तथा निर्मलता आत्मा का प्रकाश है। आंतरिक स्वच्छता का आधार भी शारीरिक और बाह्य स्वच्छता ही है। आंतरिक शुचिता एवं स्वच्छता अपनाकर ही सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि बाह्य स्वच्छता ही आंतरिक स्वच्छता का हेतु है। यदि परिवार के हर सदस्य अपनी तथा अपने पास-पड़ोस की गंदगी दूर करके उसके स्थान पर स्वच्छता एवं पवित्रता को पूरी तरह स्थापित कर लें, तो काल्पनिक स्वर्ग के स्थान पर जीवन के यथार्थ स्वर्ग को धरती पर और अपने घर पर ही देख सकते हैं। सुसज्जा, स्वच्छता एवं पवित्रता की पराकाष्ठा ही वह मनुष्यता है, जिसकी परिणति देवत्व में होना असंदिग्ध है।

देवत्व का प्रधान गुण है स्वच्छता। मंदिर तथा पूजन सामग्री स्वच्छ न हो, तो देवता स्वीकार नहीं करते। स्पष्ट है कि देवत्व के विकास के लिए स्वच्छता और सुव्यवस्था कितनी आवश्यक है। व्यक्तित्व के विकास का यह अमोघ साधन है।

आगामिषु दिनष्वेव समाजस्य नवास्थितिः ।

प्रज्ञायुगे समाश्रित्याधारं वै पारिवारिकम् ॥ ८७ ॥

भविता यत्र नीतिस्तु वसुधैव कुटुंबकम् ।

स्वीकृता स्यात्तथा सर्वे ज्ञास्यन्त्यात्मानमुत्तमम् ॥ ८८ ॥

सदस्यं सन्ततं विश्वपरिवारगतं स्वतः ।

सुसंस्कृते समाजे स्याद् ब्रह्मबिबोदयास्थितिः ॥ ८९ ॥

एतदर्थं नरैः सर्वैर्विधेयोऽभ्यास उत्तमः ।

महतः परिवारस्य सञ्चालनविधौ तथा ॥ ९० ॥

सदस्यतां सुमान्या च गृहीतुमपि सर्वथा ।

विनाऽनेन समृद्धिर्नो भवेत् सर्वसुखावहा ॥ ९१ ॥

टीका—अगले दिनों प्रज्ञायुग में समाज का अभिनव निर्माण पारिवारिकता के आधार पर ही होगा। वसुधैव कुटुंबकम् की नीति अपनाई जाएगी। सभी अपने को विश्व परिवार का सदस्य मानेंगे। मानो विराट् ब्रह्म की ही सुसंस्कृत समाज में झाँकी परिलक्षित होने लगेगी। इसके लिए हर किसी को विशाल परिवार का संचालन कर सकने तथा उसका सम्मानित सदस्य बनने का अभ्यास करना चाहिए। बिना इसके विश्व में वैसी समृद्धि संभव नहीं, जो प्रत्येक को सुख दे सके ॥ ८७-९१ ॥

व्याख्या—प्रथम दिन के समागम के समापन पर सत्राध्यक्ष एक महत्त्वपूर्ण घोषणा करते हुए उज्ज्वल भविष्य की सम्यक् तैयारी का सूत्र भी बतला रहे हैं। यह युग संधिकार है, एक युग समाप्त होकर दूसरा प्रारंभ होगा। नया युग प्रज्ञा युग कहलाएगा, जिसमें मानवीय उत्कर्ष के नए कीर्तिमान बनेंगे।

उस महान युग का आधार भी श्रेष्ठ पारिवारिक अनुशासन ही होगा। उसके अनुरूप जिनके मानस, जिनके अभ्यास नहीं बन पाएँगे, वे उस प्रवाह में ठीक से खप न पाने के कारण दुःख, कठिनाई, अनुभव करेंगे। जो पहले से वैसा विकास अभ्यास पा लेंगे वे श्रेय पाएँगे, सुखी रहेंगे।

सामान्यरूप से लोग छोटी इकाइयों में रह लेते हैं। विशाल परिवारों में मानवीय गुणों, आत्मीयता आदि का अधिक विकसित होना आवश्यक हो जाता है। दो संगीतज्ञ एक साथ मजे में गा-बजा सकते हैं, किसी विशेष अभ्यास की जरूरत नहीं पड़ती। पर बड़े आर्केस्ट्रा में बजाने के लिए सधे हुए कलाकारों को भी पर्याप्त अभ्यास करना पड़ता है।

प्रज्ञा-युग में वसुधा पर रहने वाले एक कुटुंब का भाव रखेंगे, यही नहीं उससे भी ऊपर समाज में विराट् ब्रह्म की झाँकी स्पष्ट होगी। इस स्तर के परिवार के योग्य विकसित पारिवारिक भावों का अभ्यास अचानक सहज ही नहीं हो जाएगा। उसके लिए लंबा साधनात्मक अभ्यास चाहिए। महर्षि उसी अभ्यास को पहले से बना लेने का आग्रह करते हैं। पिछला इतिहास बतलाता है कि जब-जब कोई बड़ा परिवर्तन हुआ है, श्रेष्ठ जन पहले से उसके अनुरूप अभ्यास बनाकर अग्रणी रहते रहे हैं।

मत्स्यावतार के पूर्व महाराज मनु ने अपनी संवेदनाएँ उस स्तर की बना ली थीं कि उन्हें सृष्टि बीज सँभालने की जिम्मेदारी सौंपी जा सकी।

रामावतार के पूर्व ही ऋषि तथा देवावतार वानर अपने साधना क्रम तथा अभ्यास उन परिस्थितियों के अनुरूप बनाए लगे थे।

महाभारत विशाल भारत बनाने के लिए पांडवों को परस्पर सहयोग तथा तप तितिक्षामय जीवन का अभ्यास लंबे समय

तक कराया गया था। यदुवंशी उस पारिवारिक शालीनता के अनुरूप स्वभाव न ढाल सके, तो उन्हें नष्ट ही हीना पड़ा।

पारिवारिक सूत्र के माध्यम से सतयुगी समाज बनाने का जो तत्त्वदर्शन यहाँ बतलाया गया, वह सभी के लिए अपनाए जाने योग्य है। पारिवारिकता को एवं इससे जुड़े गुण समुच्चय को अपनाए बिना न आत्म विकास संभव है, न विश्व कल्याण ही।

समाप्तिं समयोऽगात्स जयघोषपुरस्सरम्।

सहैव शांतिपाठेन तत्र नीराजनेन च ॥ ९२ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,

श्रीधौम्यऋषिप्रतिपादिते परिवारव्यवस्था इति प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

प्रथमस्य दिनस्यायं समाप्तिं प्रययौ ततः।

उपदेशो जनाः सर्वेऽप्यनयाऽमृतवर्षया ॥ ९३ ॥

आत्मनः कृतकृत्यांश्च मन्यमाना मुहुर्मुहुः।

उत्साहिता स्ववासांश्च ययुस्ते दृढपौरुषाः ॥ ९४ ॥

टीका—समय समापन की ओर था। शांतिपाठ, आरती और जयघोष के साथ प्रथम दिन का प्रवचन समाप्त हुआ। विदा होते समय अमृत वर्षा से श्रवणकर्त्ता गृहस्थगण अपने को कृतकृत्य अनुभव कर रहे थे तथा अत्यंत उत्साहित प्रतीत हो रहे थे, उनके पुरुषार्थ में दृढ़ता आ गई थी ॥ ९२-९४ ॥